सिविल और अनसिविल कोड

Civil and Uncivil Codes

रोहित डे

Rohit De
February 14, 2011

सन् 2010 में हरियाणा की खाप पंचायत ने समान गोत्र के लड़के-लड़कियों के बीच शादी को रोकने के लिए बहुत ज़ोर-शोर से हिंदू विवाह अधिनियम में सुधार की माँग उठाई थी. एक ही वंशपरंपरा से पुरुषों के समान पूर्वजों से चली आने वाली कुलों की अविच्छिन्न श्रृंखला ही गोत्र कहलाती है. खाप पंचायतें जाटों के बीच एक प्रकार की जाति पंचायतें हैं,जो एक न्यायिक पीठ के समान ही अपनी जाति के सदस्यों के फैसले करती हैं. "खाप पंचायतें वे सस्थाएँ हैं, जो आधुनिक मूल्यों में कतई विश्वास नहीं रखतीं". समान गोत्र के अपने परिवारों पर खाप पंचायतों की ज़बर्दस्त पकड़ और निरंकुशता की खबरें मीडिया में अचानक आने के कारण यह मामला तूल पकड़ने लगा. विद्वानों और सक्रिय कार्यकर्ताओं के बीच एक बार फिर से बहस छिड़ गई कि भारत में परिवारों के निरंकुश शासन के कारण लोगों के व्यक्तिगत अधिकारों और समुदायों के बीच किस प्रकार तनाव बढ़ता जा रहा है. लेकिन भारतीय बहुसंस्कृतिवाद पर किए जाने वाले इस प्रकार के सार्वजनिक वाद-विवाद में पिछले दशक में ज़मीनी स्तर पर होने वाले विकास की अनदेखी कर दी जाती है.

हिंदू और ईसाई कानून में किए गए विधायी सुधारों और मुस्लिम कानून में वैधानिक तरीके से बढ़ती कानूनी सक्रियता के कारण विभिन्न व्यक्तिगत कानूनों में बहुत हद तक एकरूपता आने लगी है. दूसरी बात यह है कि इन समुदायों के बीच भी अधिकाधिक लोकतंत्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और पारिवारिक कानूनों में भी सुधार के सुविचारित प्रयास हो रहे हैं. तीसरी बात यह है कि नए सामाजिक सर्वेक्षणों से पता चलता है कि लैंगिक गतिशीलता और पारिवारिक ढाँचे का संबंध धार्मिक पहचान के बजाय आर्थिक वर्ग और भूगोल से अधिक होता है. अंततः पारिवारिक कानून में आए सुधारों के कारण घरेलू हिंसा और वैवाहिक घर पर अधिकार की समस्याएँ भी हल होने लगी हैं और ये बातें अब सामुदायिक पहचान के घेरे तक सीमित नहीं रह गई हैं.

भारतीय राज्य धार्मिक वर्गों के नियंत्रण में रहकर पारिवारिक कानून के मामले में कानूनी विविधता का निर्वाह करते हुए स्पष्ट आचार संहिता का पालन करते हैं. उन्नीसवीं सदी का कानून ईसाइयों और पारसियों पर लागू होता है और हिंदुओं, सिखों और जैनियों पर मोटे तौर पर 1950 के दशक में पारित हिंदू कोड लागू होता है.मुसलमानों पर शरियत का कानून लागू होता है. मुस्लिम विवाह अधिनियम, 1939 का विघटन इसका अपवाद है जिसके कारण मुसलमान औरतों को सीमित अधिकार मिल गए थे. यह प्रणाली औपनिवेशिक परंपरा का एक भाग है, जो भारतीय बहुसंस्कृतिवाद का अनिवार्य अंग है और सांस्कृतिक वर्गों को आपस में मिलाने का प्रयास भी है. कहा जाता है कि व्यक्तिगत कानूनों को संविधान का संरक्षण मिला हुआ है. संविधान में "सभी समुदायों को अपने धर्म का पालन करने और उसका प्रचार-प्रसार करने का अधिकार है". लेकिन जहाँ तक पारिवारिक कानून के अंतर्गत व्यक्तिगत अधिकारों के रूप में समानता के अधिकारों का सवाल है, ये कानून अपने धर्मों के अनुरूप होते हुए भी परस्पर विरोधी हैं. सभी नागरिकों के लिए समान सिविल कोड लागू करने की संवैधानिक वचनबद्धता को पूरा करने में भी यह व्यवस्था विफल रही है.

जहाँ एक ओर मुस्लिम महिलाओं की स्थिति अपने पारिवारिक शासन में सबसे खराब है, वहीं हिंदू और ईसाई परिवारों के कानून में भी पुरुषों और महिलाओं में भेदभाव किया जाता है.लेकिन राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) और संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) की सरकारों ने पिछले एक दशक में चुपचाप ही पारिवारिक कानूनों के कोड में संशोधन कर डाले हैं. सन् 2001 में ईसाइयों के तलाक का कानून बिना किसी लैंगिक भेदभाव के पुरुषों और महिलाओं के लिए समान कर दिया गया. इससे पहले तलाक पाने के लिए महिलाओं को दो कारण देने पड़ते थे, जबकि पुरुषों के लिए एक ही कारण पर्याप्त समझा जाता था. नाटकीय रूप में हिंदू उत्तराधिकार कानून में संशोधन करके हिंदू महिलाओं को कृषि संपत्ति में अधिकार दे दिया गया और हिंदू संयुक्त परिवार के अंतर्गत उन्हें बेटी के रूप में भी समान अधिकार और परिवार में उसे रहने का अधिकार भी दे दिया गया. साथ ही पुनर्विवाह होने पर विधवाओं को अपने पति की संपत्ति से वंचित करने का प्रावधान भी निकाल दिया गया. यह माना गया कि अधिकांश भारतीय अपनी संपत्ति को ज़मीन के रूप में या संयुक्त परिवार की संपत्ति के रूप में रख लेते हैं. इस प्रावधान से महिलाएँ आर्थिक रूप में अधिक स्वतंत्र हो सकती हैं और परिवार के अंदर ही लैंगिक संबंधों

में क्रांतिकारी परिवर्तन आ सकता है. दोनों ही सुधार बिना किसी प्रकार के हो हल्ले के पारित हो गए और इसके लिए किसी प्रकार का विरोध भी नहीं हुआ.

इस बीच मुस्लिम व्यक्तिगत कानून के सबसे अधिक मुखर और विवादास्पद प्रावधानों- तलाकशुदा महिलाओं के निर्वाह भत्ते का अधिकार और पति के लिए तलाक लेने का इकतरफ़ा अधिकार-पर भी रचनाशील न्यायिक तर्कप्रणाली का असर पड़ा. सन् 2001 में उच्चतम न्यायालय ने डैनियल लतीफ़ी प्रकरण में तलाक अधिनियम,1989-जिसमें मुस्लिम महिलाओं को निर्वाह-भत्ते के सीमित अधिकार हैं- को मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण के साथ जोड़कर पढ़ते हुए "तर्कसंगत और उचित" निर्वाह भत्ते को मात्र तीन महीने तक सीमित रखने के बजाय जीवन भर के लिए निर्वाह भत्ते की व्यवस्था कर दी. एक साल के बाद शमीम आरा के प्रकरण में न्यायालय ने यह व्यवस्था दी कि पति यदि अपनी पत्नी से मात्र तीन बार "मैं तुम्हें तलाक देता हूँ" कहता है तो भी वह तलाक पाने का अधिकारी नहीं हो जाता. उसे तलाक के पर्याप्त कारण देने होंगे और उससे पहले मेल-मिलाप का प्रयास भी करना होगा. इनमें से किसी भी निर्णय का कोई खास विरोध नहीं हुआ.

विरोध न होने का आंशिक कारण यही था कि भारतीय मुसलमानों में भी इस बारे में अलग-अलग राय थी. सन् 1973 में गठित अखिल भारतीय मुस्लिम व्यक्तिगत कानून बोर्ड (AIMPLB) मुस्लिम व्यक्तिगत कानून का सबसे बड़ा संरक्षक बनकर उभरा था और इसीके नेतृत्व में शाहबानो प्रकरण के विरुद्ध आंदोलन छेड़ा गया था. अखिल भारतीय मुस्लिम व्यक्तिगत कानून बोर्ड (AIMPLB) अदालत में एक पक्ष के रूप में मुस्लिम कानून के महत्वपूर्ण सिद्धांतों को लेकर जिरह करने के लिए अधिकृत था.परंतु 1970 के दशक में अखिल भारतीय मुस्लिम व्यक्तिगत कानून बोर्ड (AIMPLB) को मुसलमानों के एकमात्र प्रवक्ता की हैसियत को लेकर अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा. इस पर देवबंद स्कूल के सुन्नी उलेमाओं का वर्चस्व उस समय उजागर हो गया, जब सन् 2004 में बरेलवी इस्लाम स्कूल के प्रतिनिधियों ने इससे इस्तीफ़ा दे दिया. इसके एक साल के बाद ही लखनऊ और हैदराबाद के शिया उलेमाओं ने अखिल भारतीय शिया व्यक्तिगत बोर्ड (AISPLB) का गठन कर लिया. उल्लेखनीय बात तो तब हुई जब सन् 2005 में अखिल भारतीय महिला मुस्लिम व्यक्तिगत कानून बोर्ड (AIMWPLB) की लखनऊ में स्थापना हुई और उसने अपनी अदालत बनाकर महिलाओं को कानूनी सलाह देना भी शुरू कर दिया. महिलाओं के अन्य अनेक दलों के साथ मिलकर इन

नवगठित दलों ने संविधान की धर्मनिरपेक्ष भाषा के तहत नहीं, बल्कि शरियत के इस्लामी ग्रंथों और पुनर्व्याख्याओं के आधार पर महिलाओं के अधिकारों की पैरवी शुरू कर दी. साथ ही इन दलों ने तलाकशुदा महिलाओं को निर्वाह-भत्ता दिलाने, बच्चों की कस्टडी दिलाने और उन्हें घरेलू हिंसा से बचाने के लिए कानून की दैनंदिन गतिविधियों पर भी ध्यान देना शुरू कर दिया.

अभी हाल ही में शोध से यह बात सामने आई है कि कानूनी अधिकारों की जानकारी न होने के कारण ही भारतीय मुस्लिम महिलाओं को दैनंदिन की तकलीफ़ें झेलनी पड़ती हैं. सन् 2004 में ज़ोया हसन और रितु मेनन द्वारा किए गए भारतीय मुस्लिम महिलाओं के पहले व्यापक आधारभूत सर्वेक्षण से यह पता चला है कि समान सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि और क्षेत्र में एक समूह के रूप में मुस्लिम महिलाओं की यदि हिंदू महिलाओं से तुलना की जाए तो शादी ब्याह,स्वायत्तता, गतिशीलता और घरेलू हिंसा की प्रवृत्ति के मामले में वे कुछ कमज़ोर ज़रूर हैं, लेकिन महिलाओं के निर्णय लेने के अधिकारों में, उनकी गतिशीलता में और सार्वजनिक पदों पर उनकी हैसियत के मामले में उनमें कोई स्पष्ट समुदाय-वार अंतर नहीं है. हसन मानते हैं कि सर्वेक्षण के निष्कर्षों से पता चलता है कि धर्म का मुस्लिम महिलाओं की हैसियत पर कोई खास असर नहीं पड़ता. हाँ,गरीबी का असर ज़रूर पड़ता है, लेकिन सामाजिक और आर्थिक हालात का असर केवल मुस्लिम महिलाओं तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि उनकी मामूली हैसियत का असर समग्र रूप में सामाजिक तौर पर उन्हें नुक्सान पहुँचाता है. इसी कारण उनका मानना है कि सभी महिलाओं को सामाजिक और आर्थिक अधिकार दिलाने पर अधिक ज़ोर दिया जाना चाहिए. भारत में मुसलमानों की दशा पर तैयार की गई सच्चर समिति ने भी धार्मिक पहचान पर ज़ोर देने के बजाय आर्थिक बदहाली में सुधार लाने पर ही ज़ोर दिया है.

नृवंशविज्ञानियों के अध्ययन से पता चलता है कि निश्चय ही मुस्लिम पुरुषों के अधिकार महिलाओं से कहीं अधिक होते हैं, लेकिन उनका उपयोग वे कभी-कभार ही करते हैं. सिल्विया वटुक का कहना है कि इससे उलट होता यही है कि अपनी सनक के आधार पर इकतरफ़ा तलाक कम ही लिया जाता है. तीन बार कहने से तलाक लेने वाले को सामाजिक तिरस्कार झेलना पड़ता है. उसके लिए दुबारा शादी करना और भी मुश्किल हो जाता है. इसके अलावा, हिंदुओं के मुकाबले मुसलमानों को तलाक से किसी सामाजिक लांछन का सामना नहीं करना पड़ता. इसलिए दूसरी शादी करना उनमें आम बात है.

हाल ही के विधायी संशोधनों से अब बात धार्मिक पहचान से हटकर परिवारों में समान रूप में झेली जाने वाली तकलीफ़ों पर आ गई है. घरेलू हिंसा अधिनियम,2005 (DVA) के अंतर्गत महिलाओं को न केवल अपने परिवारों से होने वाली हिंसा से बचाने की व्यवस्था है,बल्कि हिंसा की परिभाषा को और अधिक व्यापक बनाकर उसमें शाब्दिक, आर्थिक और भावनात्मक हिंसा को भी शामिल कर लिया गया है. इसके अंतर्गत महिलाओं को अपने वैवाहिक घर में रहने का अधिकार मिल जाता है, भले ही उस पर उसका मालिकाना हक हो या नहीं और इससे अदालत को यह अधिकार भी मिल जाता है कि वे महिलाओं के बचाव के लिए फैसले दे सकें और उन पर जुल्म ढाने वालों को ज़ुल्म की शिकार महिलाओं से संपर्क बनाने पर रोक लगा सकें. घरेलू हिंसा अधिनियम,2005 (डीवीए) का हमेशा सफल उपयोग हो या न हो, लेकिन इसके होने से महिलाएँ ज़रूरत पड़ने पर इसका उपयोग एक मूल्यवान् संसाधन के रूप में ज़रूर कर सकती हैं.

भले ही भारतीयों पर अलग-अलग कोड लागू होते हों,लेकिन पिछले दशक में उनमें जो आंतरिक सुधार किए गए हैं, उससे उनमें अधिक एकरूपता आ गई है. धार्मिक समुदायों के बीच नेतृत्व की लड़ाई ज़्यादा तेज़ हो गई है और उनमें महिला दलों की भूमिका अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी है. अंततः नए सामाजिक-आर्थिक आँकड़ों के कारण परिवार संबंधी कानूनी सुधार का आधार धार्मिक पहचान के बजाय आर्थिक और भौतिक सुरक्षा हो गया है. इसप्रकार खाप पंचायतों की चिड़चिड़ाहट उनकी बढ़ती हुई शक्ति का प्रतीक नहीं है, बल्कि तेज़ी से बदलते हुए भारत में उनकी अप्रासंगिकता के प्रति उनकी प्रतिक्रिया का परिचायक है.

रोहित डे एक वकील हैं और प्रिंस्टन विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में डॉक्टरेट के शोधार्थी हैं.

हिंदी अनुवादः विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा),रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>